हिंदी साहित्य और भारतीयता का सार

प्रफुल्ल कोलख्यान

> 'संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है, न्यस्त स्वार्थ, जिसका उपयोग खुलकर अपने उद्देश्यों के लिए कर रहे हैं। उन पर रोक लग सकती है, यदि हम निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की तलाश करें।'[1]
>
> **- प्रो. श्यामाचरण दुबे**
>
> समय और संस्कृति : भारतीयता की तलाश

भारतीयता के सार का आग्रहपूर्वक संधान आज के दौर में विभिन्न कारणों से महत्त्वपूर्ण हो गया है। कला और संस्कृति के विभिन्न उपकरणों एवं संकायों में इसकी तलाश की जा सकती है। इस तलाश का एक प्रसंग निश्चय ही हिंदी साहित्य से भी जुड़ता है।

हिंदीयता और भारतीयता

'हिंदी साहित्य में भारतीयता के सार' की गहन तलाश इसलिए भी अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इसमें देश के विभिन्न अंचलों और क्षेत्रों के विभिन्न मातृभाषावाले समर्थ रचनाकारों का अमूल्य योगदान रहा है। मैं बहुत ही सावधानीपूर्वक कहना चाहता हूँ कि

'हिंदीयता' और 'भारतीयता' पर्याय नहीं हैं। यों तो हिंदी देश के विभिन्न भागों में बोली जाती है फिर भी यह याद रखना चाहिए कि अन्य भाषाओं की ही तरह इसका भी अपना एक सुनिर्दिष्ट भौगोलिक क्षेत्र है। देश के विभिन्न अंचलों और क्षेत्रों के विभिन्न मातृभाषावाले समर्थ रचनाकरों ने हिंदी साहित्य के भौगोलिक क्षेत्र को हिंदी भाषा के भूगोल से कहीं बड़ी व्याप्ति दी है। हिंदी साहित्य को यह गौरव प्राप्त है कि इसके बहुत-से शीर्षस्थ रचनाकरों की मातृभाषा हिंदी नहीं रही है। यहाँ उन साहित्यकारों की सूची देना अभिष्ट नहीं है तथापि कुछ नाम तो लिये ही जा सकते हैं। मुक्तिबोध, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे और आज चंद्रकांत देवताले एवं अरविंदाक्षन जैसे साहित्यकारों के नाम तो कुछ उदाहरण मात्र हैं। नागार्जुन जैसे महत्त्वपूर्ण कवि की मातृभाषा मैथिली थी। उन्होंने 'यात्री' नाम से बहुत कुछ मैथिली में भी लिखा है। आज मैथिली को संविधान की अष्टम अनुसूची में जगह भी मिल गई है। मैथिली भाषा और साहित्य का नागार्जुन पर उतना ही बड़ा दावा है जितना कि हिंदी साहित्य का। कोलकाता में नागार्जुन-यात्री की प्रतिमा स्थापित की गई है, और यह सब कोलकाता में सक्रिय मैथिलों के उद्यम से हुआ है। फणीश्वरनाथ रेणु और राजकमल चौधरी का स्मरण किया जा सकता है; कल आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह और केदारनाथ सिंह आदि के संदर्भ में भी यह प्रसंग विवेचनीय हो सकता है।

हिंदी साहित्य में भारतीयता के सार के एकांश की ही आशा की जानी चाहिए, भारतीयता के सार के संपूर्ण की नहीं। वैसे भी, भारतीयता के सार के संधान के लिए साहित्य संकेतक का— अर्थात अंगुलि-निर्देश का— ही काम कर सकता है। अंगुलि-निर्देश क्या होता है! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का एक उपन्यास 'अनामदास का पोथा अथ रैक्व आख्यान' है। इस में औषस्ति-रैक्व के बीच अंगुलि-निर्देश के बारे में रोचक और महत्त्वपूर्ण संवाद है। इस संवाद को याद करना चाहिए। औषस्ति कहते हैं—

> — "मान लो बेटा, तुमने किसी से पूछा कि अमुक आदमी का घर कहाँ है? वह आदमी अगर जानता होगा तो अंगुलि-निर्देश करेगा। अर्थात् अपनी अंगुलि उठाकर तुम्हें बतायेगा कि घर किस ओर है। है न यही बात ?"
>
> रैक्व कहता है — 'हाँ भगवन् ! यही अंगुलि-निर्देश कहा जाता है।"
>
> औषस्ति कहते हैं — 'अच्छा बेटा, बुद्धिमान आदमी क्या करेगा? क्या उसकी अंगुलि का अगला हिस्सा पकड़कर लटक जायेगा?'

> रैक्क का जवाब है— 'नहीं भगवन् , वह उस दिशा की ओर देखेगा जिधर इशारा किया गया है और धीरे-धीरे उस मकान को खोज लेगा।'

हम क्या करेंगे! साहित्य से सीमित हो जाना बुद्धिमानी नहीं है। 'अपनी दुनिया' में सब अपना प्रमाण होते हैं, साहित्य भी अपना प्रमाण आप है। बावजूद इसके यह ध्यान में रखना ही होगा कि 'अपनी दुनिया' सबकुछ नहीं है, 'अपनी दुनिया' के बाहर भी एक वास्तविक दुनिया है। 'अपनी दुनिया' के मनोगत और बाहर की दुनिया के वस्तुगत के बीच निरंतर आवाजाही आवश्यक है। मनोगत और वस्तुगत के बीच की संचरण प्रक्रिया पर विस्तार से बात करने का यहाँ अवकाश नहीं है, फिर भी इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि साहित्य में मिलनेवाले भारतीयता के सार की वास्तविक जगह साहित्य से बाहर, भारतीय जीवन में है। इसके लिए समाज और समय को समझना होगा। कहना न होगा कि विभिन्न मातृभाषावाले समर्थ रचनाकरों ने हिंदी साहित्य की व्याप्ति को ही नहीं, इसकी दीप्ति को भी बढ़ाया है।

हिंदी साहित्य का सबसे चमकता स्वरूप भक्ति-काव्य में देखने को मिलता है। विद्यापति, कबीर, तुलसी, जायसी, मीरा, रैदास, जैसे कवियों की सर्जनात्मकता का सामाजिक विनियोग भक्ति-काव्य में हुआ। इस भक्ति-काव्य की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि और भीत्ति तैयार करने में दक्षिण के आचार्यों की ऐतिहासिक भूमिका को नहीं भूलना चाहिए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहें तो 'असल में दक्षिण का वैष्णव मतवाद ही भक्ति आंदोलन का मूल प्रेरक है। बारहवीं शताब्दी के आसपास दक्षिण में सुप्रसिद्ध शंकराचार्य के दशवनार्क मत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया शुरू हो गई थी। अद्वैतवाद में, जिसे बाद के विरोधी आचार्यों ने मायावाद भी कहा है, जीव और ब्रह्म की एकता भक्ति के लिए उपयुक्त नहीं थी, क्योंकि भक्ति के लिए दो चीजों की उपस्थिति आवश्यक है, जीव की और भगवान की। प्राचीन भागवत धर्म इसे स्वीकार करता था। दक्षिण के अलवार भक्त इस बात को मानते थे। इसलिए बारहवीं शताब्दी में जब भागवत धर्म ने नया रूप ग्रहण किया तो सबसे अधिक विरोध मायावाद का किया गया।'[2] मायावाद के विरोध को ब्रह्म-सत्ता के समांतर समाज-सत्ता की स्वीकार्यता बढ़ाने की प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए। समाज-सत्ता का भूगोल और इतिहास के साथ ही आर्थिक संरचना से भी गहरा

संबंध होता है; बल्कि कहना चाहिए कि ये परस्पर अंतर्बंधित होते हैं। इसलिए, भक्तिकाल के साहित्य में युगीन सीमाओं के कारण आर्थिक संरचना के सवालों के बहुत प्रत्यक्ष रूप से शामिल नहीं रहने के बावजूद प्रच्छन्न रूप से इनके होने की तलाश की जा सकती है।

संक्रमणकाल में संघात

आज का समय पूरी दुनिया में संक्रमण का समय है। नये युग में संक्रमण के समय पुराने सारे अंतर्विरोध एकबारगी निष्क्रिय नहीं हो जाते हैं। कुछ तो साथ चलते हैं, कुछ स्थगित हो जाते हैं और कुछ नये सिरे से प्रासंगिक हो उठते हैं। भारतीयता एक पुरानी और जटिल संरचना है। अन्य जटिल संरचना की ही तरह, इसकी जटिलता में भी अंतर्विरोधी धाराएँ स्वाभाविक रुप से विद्यमान हैं। इन अंतर्विरोधी धाराओं की अपनी मार्मिकताएँ और प्रासंगिकताएँ हैं; इनके अपने स्पर्शकातर बिंदु हैं। असावधानी में इन स्पर्शकातर बिंदुओं पर हल्का-सा दबाव भी बेचैन करने के लिए काफी होता है। यह समझना मुश्किल हो जाता है कि आखिर माजरा क्या है, वह कौन-सी बात है जिस पर इतना हंगामा है! स्पर्शकातरता के कारण इस पर अंतिम रूप से कोई निष्कर्ष निकालने की जल्दबाजी खतरनाक हो सकती है। तो क्या इस खतरा से बच निकलने का यही एक रास्ता है कि इस पर बात ही न की जाए! यह तो और अधिक खतरनाक हो सकता है। तब उपाय क्या है? निष्कर्षों को अनंतिम रूप में स्वीकारने के लिए तैयार रहना ही उपाय है। निष्कर्ष को अनंतिम अनंतिम रूप में स्वीकारने का मतलब है कई निष्कर्षों और किसी निष्कर्ष की विभिन्न व्याख्याओं की संभावनाओं के लिए सम्मानजनक जगह बचाए रखना। अपने अदृश्य स्पर्शकातर बिंदुओं के साथ चलना भारतीयता के लिए मुश्किल ही नहीं असंभव भी होता यदि पर्याप्त मात्रा में सहिष्णुता की शक्ति पारंपरिक रूप से इसमें अंर्तभुक्त नहीं होती। भारतीय संस्कृति में अंतर्निहित सहिष्णुता ही वह शक्ति है जो 'विरुद्धों के युग्म' की अनेकता को न सिर्फ स्वीकार्य बनाती है, बल्कि भारतीय संस्कृति की विविधिता और बहुलात्मकता को आहत किये बिना एकता की पीठिका भी तैयार करती है। पूर्वाग्रह मुक्त सांस्कृतिक लोच और अटूट संवाद से भारतीय संस्कृति सहिष्णु और समावेशी बनी है। कुछ अतिवादी लोग भारतीयता के सार में निहित सहिष्णुता की खिल्ली उड़ाते हैं। भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता को भारतीय राज्य के 'साफ्टनेस' का लक्षण प्रचारित करते हुए इसे खत्म कर देने पर आमादा हैं। सहिष्णुता के मर्म की समुचित समझ का अभाव 'विरुद्धों के युग्म' में 'विरुद्धों' को ही स्वीकारती है और 'युग्म'

को नकार देती है। ऐसी समझ भारतीय संस्कृति के सतह को ही सबकुछ मानकर चलती है और सतह के नीचे जीवित और सक्रिय विभिन्न तहों के होने के सच को सोच का हिस्सा नहीं बनने देती है। सौम्य-सहिष्णु-समावेशी संस्कृति संघाती-संस्कृति में बदलने लगती है। इससे संस्कृति के प्रावरण में समाजिक-संघात को बढ़ावा मिलता है। सामाजिक संघात के नाना रूप हैं। कहना न होगा कि यह संक्रमण काल है और संक्रमणकाल में संघात का होना स्वाभाविक है। विभिन्न संक्रमणकालों में भारतीय संस्कृति ने समाजिक संघात से अपना बचाव किया है। सामाजिक संघात से बचाव के लिए संतुलन के साथ मध्यम-मार्ग पर चलना, सहअस्तिव के लिए सहिष्णुता को निरंतर अर्जित करते रहना और हर हाल में उदात्त-दृष्टिकोण को कारगर बनाये रखना भारतीयता का सारभूत लक्षण है। यह मध्यम-मार्ग, यह संतुलन क्या होता है? इसे कई प्रकार से समझा जा सकता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'समीक्षा में संतुलित दृष्टि' पर एक लेख है जो उनके 'विचार और वितर्क' नामक संग्रह में संकलित है। इस लेख में वे कहते हैं— 'मेरा मत है कि संतुलित दृष्टि वह नहीं है जो अतिवादिताओं के बीच मध्य मार्ग खोजती फिरती है, बल्कि वह है जो अतिवादियों की आवेग-तरल विचारधारा का शिकार नहीं हो जाती और किसी पक्ष के उस मूल तथ्य को पकड़ सकती है जिस पर बहुत बल देने और अन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण उक्त अतिवादी दृष्टि का प्रभाव बढ़ा है। संतुलित दृष्टि सत्यानवेषी दृष्टि है। एक ओर जहाँ वह सत्य की समग्र मूर्त्ति को देखने का प्रयास करती है, वहीं दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने और शुद्ध करने को प्रस्तुत रहती है। वह सभी प्रकार के दुराग्रह और पूर्वाग्रह से मुक्त रहने की और सब तरह के सही विचारों को ग्रहण करने की दृष्टि है।' यह भारतीय संस्कृति की आंतरिक शक्ति है जो वैचारिक वैमत्य को सामाजिक वैमनस्य का स्वाभाविक कारण नहीं बनने देती है। महाभारत के एक प्रसंग का संमरण करें — युद्ध के मैदान में अर्जुन के रथ का सारथी बने कृष्ण जिन तर्कों के साथ कर्ण की प्रशंसा करते हैं, वह भारतीयता के सार को ही नहीं, विलक्षण भारतीय चरित्र को भी समझने का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। वैचारिक भिन्नता और सामाजिक अ-भिन्नता अर्थात वैचारिक शुद्धता और सामाजिक सहअस्तित्व के लिए कार्यकारी समन्वय भारतीयता का मूलाधार है। निष्कर्ष की बहुलता बहुलात्मक सांस्कृतिक मिजाज के भारत के लिए अधिक उपयोगी और गुणकारी है। यह कहते हुए भी यह बात बिल्कुल ही नहीं भुलाई जा सकती है कि भारतीयता का मूलाधार सहअस्तित्व के लिए जिस समन्वय को इतना महिमामंडित करता है उस समन्वय के कार्यकारी-चरित्र में स्थायित्व का समावेश नहीं कर पाता है। सहअस्तित्व और समन्वय की कोई भी स्थिति समताबोध की सामाजिक सक्रियता के अभाव में भीतर से संघाती

बने रहने की अनिवार्य बाध्यता में पड़े रहता है। जन्म-कर्म-फल सिद्धांत प्रथमतः और अंततः सामाजिक विषमता के स्वाभाविक होने के औचित्य प्रतिपादन का ही साधन बनता है। भारतीयता के सार के अमृत-पक्ष के इस विष-पक्ष को भुला देना विघटनकारी साबित होता रहा है। इस विष-पक्ष के होने को याद ही नहीं रखा जायेगा तो इसका निदान कैसे खोजा जायेगा! प्रसंगवश, विघटन से बचने के लिए किसी भी संगठन को विचारों की विविधता के प्रति आदर और कार्वाइयों की एकता के प्रति विश्वास रखना जरूरी होता है। विचारों की विविधता के प्रति आदर जितना सच्चा होता है कार्रवाइयों की एकता के प्रति विश्वास उतना ही अगाध होता है। भारतीयता के सार में सहअस्तित्व और समन्वय के अमृत-पक्ष का एक विष-पक्ष यह भी है कि वर्चस्वशाली पक्ष विविधता के प्रति सच्चे आदर को विषमता की स्वीकार्यता में बदलता रहा है। यहीं उस जादुई बिंदु की खोज की जा सकती है जहाँ से देखने पर संगठन-शक्ति-अन्याय के अंतस्संबंधों के रहस्य को साफ-साफ देखा जा सकता है।

भारतीयता का सार

आज के दौर में, भारतीयता के सार को समझना और स्वीकारना मुश्किल तो है लेकिन उससे कहीं अधिक जरूरी है। जरूरी क्यों है? यदि भारतीयता का सार समझ में नहीं आयेगा तो भारतीयता की कई बुनियादी समस्याएँ भी समझ में नहीं आयेंगी। समस्या समझ में न आये तो निदान को स्वीकारना भी मुश्किल होता है। समस्याओं का दुश्चक्र बन जाता है। यह ठीक है कि संस्कृति के अपने नियमों के अनुसार भारतीय संस्कृति में भी आत्मोपचार की स्वचालित प्रक्रिया चलती रहती है। किसी भी जीवंत संस्कृति की तरह भारतीय संस्कृति में भी अपनी समस्याओं के निदान की आंतरिक ताकत बहुत है। संस्कृति की समस्याओं का निदान ताकत से हो यह बहुत ठीक नहीं है, भले ही वह ताकत आंतरिक ही क्यों न हो। मनुष्य की जययात्रा की सफलता का एक रहस्य यह भी है कि उसने अपनी अधिकतर समस्याओं के निदान ताकत के बदले तकनीक से करना सीखा। इस संदर्भ में हथौड़े और चाभी का संवाद प्रासंगिक है। हथौड़े ने एक दिन चाभी से अपनी ताकत का बखान करते हुए कहा कि देखो मैं कितना बलिष्ठ हूँ। चाभी ने हथौड़े से कहा, मैं छोटी हूँ तो क्या जिस काम को मैं बिना किसी शोर के कर लेती हूँ उसके लिए तुम सारी दुनिया सिर पर उठा लेते हो। यह ठीक है कि संस्कृति में चाभी का महत्त्व है तो हथौड़े का भी महत्त्व है। चाभी को भी हथौड़े की चोट सहनी ही पड़ती है! बिना हथौड़े के तो चाभी बन ही नहीं सकती है! चाभी खो जाए तो हथौड़ा ही काम आता है—

आपातकाल में! हथौड़े और चाभी के महत्त्व पर लंबी बहस की जा सकती है लेकिन इतना भर इशारा कर देने से हमारा काम चल जायेगा कि अधिकतर लोगों के पास कोई-न-कोई चाभी तो जरूर रहती है! और हथौड़ा! हथौड़ा तो किसी-किसी के पास होता है। हम भारतीयता के सार को ठीक से समझ पायेंगे तो अपनी समस्याओं के निदान के लिए चाभी मिल सकती है, अन्यथा हथौड़े का विकल्प अपनाना पड़ सकता है जो किसी भी तर्क से शुभप्रद नहीं माना जा सकता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उत्तर आधुनिकतावाद जिस बहुलतावाद का हल्ला मचाये हुए है, भारतीय संस्कृति में निहित बहुलात्मकता उससे तत्त्वत: भिन्न है। भारतीयता के सार में निहित बहुलात्मकता का चरित्र सामाजिक और सांस्कृतिक है जबकि आधुनिकतावाद की बहुलतात्मकता का मूल चरित्र आर्थिक और राजनीतिक है। उत्तर आधुनिकता का विखंडन सिद्धांत शब्दों तक सीमित न रहकर विश्व, राष्ट्र, समाज,समुदाय को ही नहीं अंतत: व्यक्ति को भी विखंडित करने में दिलचस्पी रखता है। विखंडन विच्छेद और अलगाव का सूत्रधार है। साहित्य व्यक्ति और समुदाय के मन में नैतिक आग्रहों को जिलाये रखने की कोशिश करता है। आधुनिकता के प्रवाह ने सामाजिकता की बाहरी— और एक गंभीर अर्थ में भीतरी— संरचना को भी बदला है। जहाँ तक भारतीय संदर्भ की बात है, आधुनिकता के प्रवाह के बावजूद, सामुदायिक संरचना के भीतरी बनाव में कोई भारी परिवर्तन नहीं हुआ है। यह सच है कि विराजनीतिकरण की चाहे जितनी कोशिश की जाये, जब तक राजनीति लोगों के भौतिक जीवन का निर्धारण करती रहेगी राजनीति का महत्त्व कम नहीं होगा। लेकिन क्या भौतिक जीवन ही मनुष्य के लिए सब कुछ है, नैतिक और मानसिक जीवन कुछ नहीं! साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से देखने पर तो यही प्रतीत होता है कि भौतिक समृद्धि का नैतिक आधार यदि सुदृढ़ न हो तो जीवन दुर्वह हो जाता है। कहना न होगा कि नैतिकता अपने आप में सामाजिक और सामुदायिक प्रपत्ति है। सामुदायिकता और सामाजिकता की बुनियाद उसकी सामूहिकता में होती है। आज आदमी अपनी सामूहिकता से कटता जा रहा है। सुख-दुख की घड़ी में अंतत: अकेला पड़ता जा रहा है। आनंद और उल्लास के अवसरों पर भी उसका अकेलापन बढ़ रहा है। अपवाद के कुछ एक अवसरों को छोड़कर, संगठनात्मकता और सामुदायिक केंद्रिकता बहुत तेजी से गिरोह या संप्रदाय में बदलती जा रही है। संगठन और समुदाय के आर-पार देखनेवाली सम्यक सांस्कृतिक दृष्टि का संतुलन टूटता जा रहा है।

भूमंडलीकरण के इस दौर में सामान्य जन तेजी से समुदायोन्मुखी होता जा रहा है। सामुदायिकता का बड़ा आधार धर्म, भाषा और आंचलिकता से तय होता है। समुदायोन्मुखता कब धर्म, भाषा और आंचलिकता के अलग-अलग रूपों या इनके मिश्रित रूपों के आधार पर सांप्रदायिकता में बदल जाती है इसका पता भी नहीं चलता है। सांप्रदायिकता का सबसे बड़ा खतरा तो यही होता है कि सांप्रदायिकता से ग्रस्त लोगों को पता ही नहीं चलता कि वे वस्तुत: किन अर्थों में सांप्रदायिक हैं! जैसे पागल को पता नहीं होता कि वह किन अर्थों में पागल है। ऐतिहासिक कारणों से हमारे देश में सांप्रदायिकता के धार्मिक संदर्भ पर इतना अधिक जोर दिया जाता रहा है कि यह बात कभी ध्यान में ही नहीं आती कि सांप्रदायिकता के अन्य संदर्भ भी होते हैं। सांप्रदायिकता के अन्य संदर्भों को कभी-कभी, अनजाने में ही सही, अत्यधिक गौरावान्वित भी कर दिया जाता है— यह होता है कभी भाषा प्रेम के नाम पर, क्षेत्रीय विकास एवं गौरव के नाम पर, जातीयता के नाम पर, तो कभी-कभी संगठन के नाम पर भी होता है! जहाँ तक भारत का संदर्भ है, कहना न होगा कि एक भाषा समूह का व्यक्ति, एक अंचल का व्यक्ति, एक जातीयता का व्यक्ति, एक संगठन का व्यक्ति अन्य भाषा समूह, अन्य अंचल, अन्य जातीयता, अन्य संगठन के लिए इतने निकृष्टतम अर्थों में इतना अधिक बाहरी कभी नहीं था। क्या यह प्रवृत्ति बढ़ती ही जायेगी? मनुष्य जाति के एक होने की बात का कोई भीतरी और वास्तविक गंभीर अर्थ नहीं है! सामुदायिक केंद्रिकता की अति रवींद्रनाथ ठाकुर के सुचिंतित मानव-धर्म के व्यापक आधार के प्रस्ताव को तोड़ देती है— व्यापक आधार अर्थात मानवता! इतना ही नहीं सामुदायिक केंद्रिकता निष्ठुर क्षेत्रीयता को भी बढ़ावा देती है। इस तरह व्यक्ति, समुदाय, समाज, राष्ट्र और विश्व का अंत:करण आत्मघाती संकोचन का शिकार हो जाता है।

मनुष्य की विकास यात्रा में विच्छेद का नहीं, संधि और एकता का महत्त्व रहा है। एकता और संधि से संधर्ष और समर्पण की प्रक्रिया का व्यापक आधार तैयार होता है। कहना न होगा कि मानव-धर्म का 'मानव', धर्म और विचार की अतिकेंद्रीयता को तोड़ने का ही संकल्प लेकर सक्रिय होता है। भारतीय संस्कृति के मूल विन्यास में बहुलता और विकेंद्रीयता के जितने तत्त्व हैं इसकी अंतर्निहित एकता और केंद्रीयता भी उतनी ही मजबूत रही है। भारतीय संस्कृति की बहुलता के मूल विन्यास में विविधता की

प्रतिपूरकताओं और धार्मिक प्रावरणों में दार्शनिक मतों के सहअस्तित्व की सुदीर्घ सामाजिक परंपराओं से निष्पन्न लगाव और अंतर्भुक्तीकरण की प्रक्रिया की ऐतिहासिक द्वंद्वात्मकता के महत्त्व को समझना चाहिए। वैसे भी एक के अंतर्गत अनेक के स्वाभाविक संयोजन से ही बहुलता का अर्थ बनता है— अन्यों और भिन्नों की निजी विशिष्टताओं से बहुलता का अर्थ नहीं बनता है। भारतीयता के सार को समझते हुए सांस्कृतिक अराजकता से निपटने, अस्मिता को बचाने, परंपराओं की ऊर्जा को मानव विकास और प्रगति से जोड़ने, संस्कृति को राजनीतिक अस्त्र के रूप में व्यवहार किये जाने के सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव के उपयोग की दिशा में सोचा जाना चाहिए।

सभ्यता और संस्कृति अपने संक्रमण के प्रत्येक दौर में नये सिरे से आत्मगठन के लिए प्रस्तुत होती है। आत्मगठन के लिए आत्मान्वेषण प्राथमिक दायित्व है। अपने को बार-बार हासिल करना पड़ता है। गोपन प्रकृति का लक्षण भी है और गुण भी। संस्कृति का विकास प्रकृति की बुनियाद पर ही होती है। इसलिए गोपन संस्कृति का भी लक्षण और गुण है। प्रकृति और संस्कृति की इस गोपनीयता को जानने के लिए निरंतर अनुसंधान की जरूरत होती है। एक समय जवाहरलाल नेहरू ने भारतीयता की खोज की चेष्टा की थी। वह आज भी नये सिरे से उपयोगी है लेकिन, थोड़ी सावधानी के साथ। सावधानी यह कि इस दौर में भारतीयता के सार का संधान अपनी प्रयोजनीयता और बहुत हद तक तात्त्विकता में भी भिन्न है। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के इस दौर में भीतरी और बाहरी, अपने और पराये, स्थानिक और वैश्विक, तात्कलिक और शाश्वत, शक्ति और शील, सौंदर्य और शिव, नूतन और पुरातन के बीच के द्वंद्व, तनाव और संतुलन बिंदुओं को चिह्नित करने के साथ ही द्वंद्व, तनाव और संतुलन के नये बिंदुओं को भी चिह्नित करने के लिए भारतीय अनुभवों को जाग्रत करना आज सांस्कृतिक दायित्व है। यह याद रखना होगा कि निजता और सामाजिकता, मम और ममेतर, हिंसा और करुणा, जीवन और मृत्यु, मनुष्य और मनुष्येतर, मनुष्य और ईश्वर, नीति और धर्म, जड़ और चेतन, कर्म और कर्म फल, जन्म और जन्मांतर, काम और मोक्ष, पुरुषार्थ और ऋण, दुख और निर्वाण, जागने और सोने, पाप और पुण्य, भोग और प्रेम, सांत और अनंत के आपसी रिश्तों के सर्जनात्मक अंतर्द्वंद्व से भारतीयता का सार निष्पन्न है। इस अर्थ में भारतीयता एक सांस्कृतिक हुनर है।

अपने मूलार्थ में भारतीय संस्कृति का सार वस्तुत: जिजीविषा-धर्मी है। व्याकरण जिजीविषा का अर्थ जीने की इच्छा बताता है। भारतीय संस्कृति का सार जिजीविषा के अर्थ में जीने की इच्छा के साथ ही जिलाने की इच्छा की अनंत संभावनाओं का भी समावेश करता है। भारतीयता के सार का पदार्थ, यह है कि भारतीय संस्कृति बहुलात्मक है— 'भारतीय संस्कृति' के सार को 'भारतीय संस्कृतियों' का सार समझा जाना चाहिए। आज के दौर में, भारतीयता और हिंदीयता के सार के प्रति वर्त्ताव के नजरिये से हिंदी साहित्य की परंपरा और प्रगति को परखना जरूरी है। यह परख साहित्य से सीमित हो जाने के लिए नहीं, बल्कि साहित्य के अंगुलि-निर्देश को समझकर समाज में साहित्य की पैठ बनाने और साहित्य के जनवास में समाज के पुर्नवास के लिए जरूरी है।

संदर्भः

1 प्रो. श्यामाचरण दुबे: समय और संस्कृति: भारतीयता की तलाश

2 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी: हिन्दी साहित्य की भूमिका- भक्तों की परंपरा: राजकमल प्रकाशन